

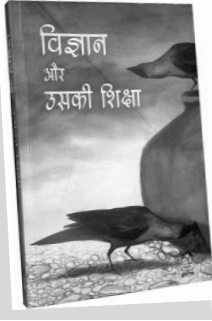
## समीक्षा

# विज्ञान शिक्षण का इतिहास, वर्तमान और भविष्य

## ■ प्रेमपाल शर्मा

वरिष्ठ साहित्यकार

**संपर्क :** 96, कला विहार  
अपार्टमेंट्स,  
मयूर विहार फेज-1 (एक्स.),  
दिल्ली-110091



**पुस्तक:** विज्ञान और उसकी शिक्षा

**संकलन एवं संपादन :** उमा सुधीर और रश्मि पालीवाल

**प्रकाशक:** एकलव्य प्रकाशन, भोपाल

**प्रकाशन वर्ष:** 2016

**मूल्य:** ₹ 200

**ISBN-978-93-81337-67-7**

पता नहीं क्यों मेरे दिमाग में ऐसी किताब की ललक वर्षों से थी। हो सकता है यह ललक भी एकलव्य जैसी संस्थाओं के विभिन्न प्रकाशनों, पत्रिकाओं ने धीरे-धीरे निर्मित की हो। उन वैज्ञानिक जीवन गाथाओं का भी मैं अहसान मानता हूँ जो कच्ची उम्र में विशेषकर आपको रास्ता दिखाती है। चार्ल्स डार्विन, मेंडल, आइंस्टाइन, जगदीश बसु, मेघनाथ साहा से लेकर लीलावती की बेटियां या ऑक्सफोर्ड सीरिज की सभी किताबें भी जिनका शीर्षक था 'वैज्ञानिक जिन्होंने दुनिया बदल दी'। मात्र चालीस पेजी दर्जनों किताबें। खैर 'विज्ञान और इसकी शिक्षा' में इन सबका निचोड़ है और व्यावहारिकता भी।

मेरी सीमित जानकारी में एकलव्य के अलावा शायद ही कोई ऐसा प्रयास किया गया है जब हाई स्कूल तक की शिक्षा-विशेषकर विज्ञान शिक्षा को समझने के लिए इतने व्यवस्थित ढंग से और इतने मेधावी दिमागों ने वर्षों तक काम किया हो, उसमें शिक्षक, अभिभावक भी शामिल हों और विद्यार्थी भी। इन अनुभवों, शोध के सीमान्तों को राष्ट्रीय पाठ्यक्रम, 2005 और शिक्षा की दूसरी नीतियों के संदर्भ में उपयोग करने के विकल्पों पर भी सोचा गया है। मोटा-मोटी 21 लेख चार खंडों में विज्ञान-शिक्षा के अलग अलग आयामों को समझने के लिए इसमें शामिल किए गए हैं। कहने की जरूरत नहीं, इन आयामों से सामाजिक विषयों को समझने में भी उतनी ही मदद मिलेगी।

प्रो. अनीता रामपाल के लेख 'मंत्र' हवावाजी और 'धुंध' से मौजूदा विज्ञान शिक्षण का जायजा लेते हैं। इसका शीर्षक सिर्फ 'हवावाजी' होता तो और अच्छा रहता क्योंकि मंत्र की तो बात यहां प्रतीकात्मकता के अलावा आने से रह ही गई। बहुत खूबसूरत उदाहरणों से उन्होंने शुरुआत की है। 'हवा सब जगह है' तो जरूर लेकिन बच्चे समझ मुश्किल से ही पाते हैं या उसे बताने में उनकी भाषा ठिठक जाती है। रट कर, 'ज्ञान कैप्सूलों'

के सहारे परीक्षा में पास तो हो जाएंगे लेकिन ऐसे कैप्सूल बच्चों की सहज तर्क क्षमता को नकारते हैं। नतीजतन बच्चे खामोश होते जाते हैं। बजाए प्रश्न उठाने के और यही शिक्षक की बड़ी कमी है।

अनीता रामपाल ने एकलव्यों की ही बनाई बाल वैज्ञानिक पुस्तक से पूरा उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि शिक्षक भी इस कैप्सूल प्रणाली की उपज है और इसीलिए ये अवधारणाएं और जुमले बड़ों के लिए भी उतने ही अबूझ, समस्यामूलक। इनका तीखा प्रश्न पूरी शिक्षा व्यवस्था पर है कि हम क्यों इतने छोटे बच्चों के दिमाग में दबादबा कर इन्हें ठूंसे चले आ रहे हैं बिना यह परवाह किए कि इससे कितना नुकसान हो रहा है।

अकेले इस उदाहरण को रखकर यदि पूरे पाठ्यक्रमों पर नजर डाली जाए तो हमारी शिक्षा की निरर्थकता सामने आ जाती है। यह भी कि क्यों हम नए आविष्कार करने, सोचने में असमर्थ हैं? क्यों छोटी से छोटी समस्या का समाधान न हमारा समाज कर पाता, न नौकरशाही, न राजनीति? आखिर हैं तो सब इसी रटन्त, अबूझ शिक्षा की एक सी ही पैदावार। बच्चों का दोष इतना नहीं है जितना पूरी शिक्षा व्यवस्था का। बच्चे तो हमारे दुनिया भर के बच्चों से ज्यादा मेहनत कर रहे हैं। अपने बचपन को दांव पर लगाते हुए और कभी-कभी निराशा में अवसाद-आत्महत्या की तरफ धकेले जाते हुए भी। लेकिन सांचा है कि बदलने का नाम ही नहीं ले रहा। बल्कि उसे और कुरूप बना रहा है।

अभी तक गनीमत थी कि आधी-अधूरी समझ, नासमझी सिर्फ स्कूली स्तर तक ही सीमित थी, उसे ज्यादा विज्ञान या बड़ी डिग्रियों का दंभ भी नहीं था। लेकिन जब से इंजीनियरिंग, एमबीए, डेंटल डॉक्टरी की डिग्रियों की बाढ़ आई है तबसे विशेषकर विज्ञान, इंजीनियरिंग की डिग्रियां, पूरे शिक्षा के मॉडल पर ही प्रश्नचिन्ह लग गया है। जो पढ़ा रहे हैं, जो पढ़ाया जा



### पीट मानड्रायन की एक कलाकृति

रहा है, जिन कोचिंग में रटकर ये छात्र यहां हैं वहां रचनात्मकता का अंकुर तो फूट ही नहीं सकता। वृक्ष बनने की तो बात ही दूर है।

समझ की प्रामाणिकता को जांचता परखता इतना ही मौलिक विचारोत्तेजक एक लेख है रश्मि पालीवाल और यमुना सन्नी का 'आया समझ में?' बाकई, आज तक ऐसी आवाज नहीं सुनी - नहीं! समझ नहीं आया'। न तो हमने ऐसा कहने की हिम्मत दी बच्चों को, न समझ। हमारी शिक्षा का यकीन ही तोता बनाना, उन्हें आज्ञाकारी बनाना है। इस लेख में भी छठी के बच्चों के साथ दिन-रात का होना, पृथ्वी पर गर्मी, सर्दी, बरसात आदि की गतिविधि और उनकी समझ को जानने की कोशिश की गई है। देश भर के शिक्षक ऐसी गतिविधियों से सीख ले सकते हैं और खेल खेल में विज्ञान भी बच्चों को समझ में आ जाएगा। फिर साइंस वह हौवा नहीं बनेगी जो मौजूदा वक्त में है। बच्चे भी न

फेल होंगे, न विज्ञान से दूर भागेंगे।

अनुभवों के वृत्तांत 'शिक्षकों के लिए नए रास्ते में' रोशनी कसाड़ ऐसे ही ढेरों उदाहरणों से शिक्षा को सहज बनाने की वकालत करती हैं। उनका आग्रह है कि शिक्षक पढ़ाते वक्त रोजमर्रा की बातों, अनुभवों को बांटें। अपने विद्यार्थियों को भी प्रोत्साहित करें। रोशनी फिलहाल अमेरिका में पढ़ाती हैं लेकिन ये अनुभव गुजरात के पाटण जिले के पांच स्कूलों के हैं। उनके निष्कर्ष पर गौर करने की जरूरत है कि 'शिक्षक बच्चों की कमियों या मजबूरियों पर तो बात करते हैं पाठ्यक्रम के स्वरूप पर सवाल उठाने में डरते हैं।' यह पूरे देश और हर स्तर के पाठ्यक्रम के बारे में सच है। कैरन हेडाक, सात्यकी भट्टाचार्य, अभिषेक धर, किशोर पंवार, उमा सुधीर के वृत्तांत से हर विज्ञान परीक्षक और अभिभावक भी विज्ञान की पहली शर्त तर्कसंगतता सीख सकता है और

फिर सिखा भी सकता है।

इतना ही रोचक अंतिम अध्याय है जिसमें शिक्षकों के ऐसे अनुभवों का ब्यौरा है जिन्होंने बच्चों के साथ संवाद करते हुए कुछ नया समझाने की कोशिश की है। ये शिक्षक हैं दिलीप चुघ, नीतू मालवीय, अनीश, मुकेश और प्रमोद मैथिल। इनके लेख संदर्भ पत्रिका सहित देश की विभिन्न पत्रिकाओं में भी पाठकों ने पढ़े होंगे। इन लेखों का संदेश बहुत साफ है- पाठ्यक्रम की जकड़न को ढीला करना और यह भी कि यदि शिक्षक कुछ अपने पर भी हंसना सीख लें तो विज्ञान पढ़ाना कितना आसान हो जाए।

सबसे विचित्र और दुखद स्थिति इस देश में शिक्षा की है। चालीस-पचास साल पहले भी कोई आदर्श स्थिति नहीं थी। उसकी अच्छाई-बुराईयों की अभी जांच-पड़ताल चल ही रही थी कि पिछले दो दशकों में तो देखते-देखते

हम सत्तर के दशक के शिक्षा के पायदान या पैमाने से और कई सीढ़ी नीचे आ गिरे हैं। दुनिया में जहां सूचना तकनीक से शिक्षा की पूरी अवधारणा और ग्लोबलाइजेशन जैसी नावों पर सवार ज्ञान के विस्फोट, ताकत की बातें स्वीकृत हुईं, हमारे क्लासरूम और वीरान होते गए।

शिक्षा की आधारभूत बुनियादें- पुस्तकालय, लेबोरेट्री, खेल के मैदान लगभग समाप्ति की तरफ हैं। सरकारी स्कूलों का रोना है जब ग्रांट ही नहीं मिल रही तो कैसे चलाएं यह सब। क्या बिना पुस्तकालय के किसी स्कूल की कल्पना संभव है? और वैसे ही क्या विज्ञान केवल कुछ कागजी फार्मूले रटने का काम है? उन दिनों एकाध माइक्रोस्कोप आदि तो होते थे, बायलोजी की लैब में, रसायन शास्त्र की लैब में कुछ रसायनों, गैसों की महक तो आती थी, अब वे दशकों से बंद हैं। यहां तक कि शिक्षक भी भूलते जा रहे हैं कि प्रयोग भी शिक्षा का हिस्सा है। हां, प्रयोगात्मक परीक्षा के लिए औपचारिकताएं अभी भी होती हैं। परीक्षा शिक्षक आता है और सैर सपाटे के बाद एक नियत जगह जिसे 'माक्सशीट' कहते हैं, वहां हस्ताक्षर करके चला जाता है।

विकल्प के रास्ते निजी स्कूलों की तरफ तलाशें गए। हारवर्ड से लेकर यूरोप, इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों की चुनी हुई बातों को सामने रखकर कि वहां सब कुछ इसलिए अच्छा है क्योंकि 'निज का भाव' और उसका प्रतिफल, ईनाम, परीक्षक और शिक्षण संस्थान दोनों को बेहतर बना रहा है। इसीलिए अच्छे शोध हो रहे हैं, अकादमिक माहौल भी अच्छा है। फायदा सभी को। देश में दूसरे मुल्कों के विद्यार्थी पढ़ने आते हैं तो इनकी भी कमाई और प्रतिभा का फायदा भी।

देश के आईआईएम जैसी संस्थाओं की सीमित स्वायत्तता को भी 'निजीकरण' के पक्ष में गाया जाता है। लेकिन अपने देश के निजी स्कूलों ने तो बुनियाद ही गलत डाली। पाठ्यक्रम के नाम पर ऐसा कचरा जो न विज्ञान को दृष्टि दे सकता, न सामाजिक विज्ञान-

**शिक्षा की आधारभूत बुनियादें-पुस्तकालय, लेबोरेट्री, खेल के मैदान लगभग समाप्ति की तरफ हैं। सरकारी स्कूलों का रोना है जब ग्रांट ही नहीं मिल रही तो कैसे चलाएं यह सब। क्या बिना पुस्तकालय के किसी स्कूल की कल्पना संभव है? और वैसे ही क्या विज्ञान केवल कुछ कागजी फार्मूले रटने का काम है?**

इतिहास राजनीति, अर्थशास्त्र को। पुस्तकालय वे क्यों चलाएं उसमें तो खर्चा आता है। इससे अच्छा तो एक कक्षा और बढ़ा कर मुनाफा कमाया जा सकता है। यही गणित लैबोरेट्री और खेल के मैदान के लिए लगाया जाता है। हो भी क्यों न यहां 'प्रोफिट सेंटर' मूल मंत्र है। इसलिए 21वीं सदी का फलता-फूलता धंधा शिक्षा बनती गई भारत में। होंगे शिक्षा के सिद्धांत दुनियाभर में हम तो विश्व गुरु थे, और बाहरी चमक-दमक के बूते फिर बन जाएंगे कि मूर्ख समझ को पाले हुए हैं।

इस परिवर्तन को केवल बेहतर राजनीति से ही हासिल किया जा सकता है। 'एकलव्य' का मध्यप्रदेश में प्रयोग कुछ कुछ उसी दिशा में बढ़ रहा था कि वर्ष 2002 में उस राजनीति ने भी उन्हें बीच अधर में छोड़ दिया। नए मिजाज के पाठ्यक्रम पढ़ाने के ढंग, परीक्षा की नई कवायदें जो दूरगामी परिवर्तन को ध्यान में रखकर कुछ जिलों में शुरू की गई थीं, वे बंद

हो गईं। ऐसा नहीं कि एकलव्य ने उम्मीद छोड़ दी है, वे यथासंभव सामजस्य की कोशिश में हैं लेकिन इसमें समय तो लगेगा ही। क्या राजनीति को रातोंरात बदला जा सकता है? 'एकलव्य' का विज्ञान शिक्षण, इतिहास शिक्षण ऐसे ही प्रयासों की कड़ी है।

पुस्तक का पहला खंड जरूर कुछ सैद्धांतिक है। हालांकि इसमें शामिल लेख पूरी एतिहासिकता के साथ विज्ञान को समझने, समझाने की कोशिश करते हैं, फिर भी हाई स्कूल के शिक्षकों को इसका भावार्थ समझने में कुछ समय लग सकता है। बुनियादी आधार देने के लिए यह जरूरी भी है। उमा सुधीर, हिमांशु श्रीवास्तव के लेख 'विज्ञान शिक्षण: इतिहास वर्तमान और आगे के रास्ते' तथा रश्मि पालीवाल का 'समाज और विषय ज्ञान' लेख न केवल अपनी विषयवस्तु बल्कि लेख के अंत में दी गई विस्तृत संदर्भ सूची से किसी भी पाठक का दिमागी आयतन बढ़ाने में सक्षम है। 'एकलव्य' की शिक्षा दृष्टि का अप्रतिम उदाहरण है 'इतिहास के जरिए विज्ञान'। बहुत रोचक और जानकारियों से भरा।

सीखने-समझने की इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक में शिक्षण में अपनी भाषा का पक्ष न जाने क्यों छूट गया है। वैसे संवाद, बातचीत, बच्चों की बोली में सहजता, रोजमर्रा के उदाहरण आदि इसी पक्ष के पहलू हैं, लेकिन विदेशी भाषा के जिस आतंक के साए में हमारी शिक्षा अंतिम सांस गिन रही है विशेषकर विज्ञान, तकनीकी की पढ़ाई, उस बीमारी को समझते हुए ऐसी पुस्तक में अपनी भाषा मातृभाषा में पढ़ाई को विशेष रूप से रेखांकित किया जाना चाहिए। 'बोझ रहित शिक्षा' में प्रोफेसर यशपाल का कथन सही है कि ज्यादा घातक अग्रहय, जटिल सामग्री का होना है' (पृष्ठ 189)। लेकिन इस बोझ को सौ गुणा विदेशी माध्यम यानि की अंग्रेजी बढ़ा देती है। पता नहीं इस दर्द को इस देश के बुद्धिजीवी, शिक्षाविद् कब समझेंगे? अंत में, 'एकलव्य' की हर पुस्तक की तरह इसकी पूरी प्रस्तुति भी बहुत आकर्षक और सुरचिपूर्ण है। ■